बच्चन की परवर्ती कविता : यथार्थ बोध

*गोरे लाल मीना

शोध सारांश

पार जिसे जाना होता है
उसे धार से लहर–भँवर से लड़ना पड़ता[1]

अर्थात् अपने युग और समय से व्यक्ति किसी भी रूप में अपने को काट नहीं सकता। युग–सन्दर्भों से निरपेक्ष होकर न तो जीवन की कल्पना की जा सकती है और न ही साहित्य की। इसलिए हर एक व्यक्ति समय के बदलाव और कसाव को महसूसता है और उसके अनुरूप स्वयं को ढालता है। व्यक्ति के चारों तरफ उत्पन्न सामाजिक परिस्थितियों के बदलाव उसके चेतन, अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। और उसी के चलते व्यक्ति के जीवन–मूल्यों, आदर्शो और लक्ष्यों में भी युगानुरूप आवश्यक एवं अनिवार्य परिवर्तन होते रहते हैं। और फिर रचनाकार जो कि सहज संवेदनशील होता हैं, वह अपने आपकों परितर्वनों से परे भला कैसे रखा सकता है। हरिवंश राय 'बच्चन' हिन्दी काव्य–जगत् के एक ऐसे ही संवदेनशील रचनाकार हैं जिनके काव्य–कर्म की प्रतिबद्धता सदैव संघर्षयुक्त जीवन से रही है, युग–जीवन एवं युग–समाज में आने वाले परिवर्तनों को उन्होंने गम्भीरता से पकड़ा है। यों तो अन्तर्मूखता, व्यक्तिवादिता, पलायनवादिता आदि के रूप में समय–समय पर उनके ऊपर आरोप भी लगते रहे हैं और उन्हें हालावादी तक कहा गया। पर बनी बनायी धारणा से थोड़ा अलग हटकर यदि बच्चन का अध्ययन उनकी रचनाओं की समग्रता में किया जाय, उनके सृजन–कर्म में आने वाले बदलावों के परिप्रेक्ष्य में किया जाय तो बच्चन का एक नया और सशक्त रूप भी सामने आता है जो जीवन को, जीवन के यथार्थ रूप में पकड़ने की कोशिश करता है–और पूरी संवेदनशीलता के साथ। तभी तो वे कहते है।

जीवन हँसी भी, जीवन रूदन भी,
जीवन खुशी भी, जीवन घुटन भी,
जो न जीवन की,
जो न जीवन की गत पर गाये
उसे नहीं जीने का हक है।
जिसे माटी की महक न भाये
उसे नहीं जीने का हक है।[2]

सच है कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में रोमानियत की प्रमुखता दिखलाई पड़ती है। परन्तु जीवन के कठोर यथार्थ ने इस भाव को ज्यादा समय तक टिकने नहीं दिया। विपरीति परिस्थितियों का कसाव कवि के मानस पर इतना

सशक्त था कि 'बंगाल का काल' से होते हुये 'दो चट्टाने', 'बहुत दिन बीते' तथा 'कटती प्रतिमाओं की आवाज' आदि रचनाओं तक पहुँचते–पहुँचते बच्चन का दृष्टिकोण पूर्णतया यथार्थवादी हो जाता है। 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में जीवन के कठोर सत्य को बच्चन ने इन शब्दों में स्वीकार किया है– 'बंगाल की दयनीय दशा पर मै इतना विचलित नहीं हुआ जितना उसकी नपुंसक सहिष्णुता पर जिससे उसने मानवी स्वार्थ–प्रेरित इस दानवी 'इति–मीति को मण्ट मारकर झेल लिया।'[3]

वस्तुतः 'बंगाल के अकाल' और उसकी ह्रदय–विदारक परिस्थितियों ने कवि की चेतना को बड़ी गहराई से प्रभावित किया। फलस्वरूप युग–संदर्भ से संपृक्ति की अनुभूति का प्रथम दर्शन वास्तविक रूप से बच्चन की रचना 'बंगाल का काल' में होता है। और 'दो चट्टानें' 'बहुत दिन बीते', 'कटती प्रतिभाओं की आवाज' और उभरते प्रतिमानों के रूप' तक पहुँचते–पहुँचते बच्चन की व्यक्तित्व में एक स्थिरता आ गयी थी। वे जीवन के कठोर सत्यों से भली भाँति परिचित हो चुके थे। इसीलिए वैचारिक स्तर पर यहाँ एक उल्लेखनीय प्रौढ़ता दिखलाई देती है। वे स्वयं स्वीकारते हैं कि 'इसकी कविताएँ लिखते हुए बारम्बार मेरा ध्यान उस विखण्डन, विघटन और बिखराव की ओर गया है जो आज हमारे बाहर और बाहर से अधिक, भीतर चल रहा है। पर इस विघटन और विखण्डन के बीच कहीं कुछ विनिमिंत भी हो रहा है। मैं समझता हूँ, इसका भी आभास मुझे है, और मेरे सृजन में, शायद, किसी अंश में यह प्रतिध्वनित भी हुआ है।'[4]

दरअसल विघटन और सृजन दोनों के प्रति सचेतना ही उन्हें नयी समझ से जोड़ती है और जिस समझ के रास्ते पर चलकर बच्चन का कवि व्यक्तित्व प्रौढ़ता प्राप्त करता है, उनके विचार पुष्ट होते हैं, उन्हें यथार्थ का बोध होता है, जीवन और समाज की समुचित परख की नयी दृष्टि मिलती है। इसकी स्पष्ट झलक 'दो चट्टानें' नामक काव्य–संग्रह में दिखलाई पड़ती है। इस संग्रह की लगभग सभी कविताओं में जीवन के प्रति प्रौढ़ सोच, समाज में व्याप्त जड़ता एवं रूढ़िवादिता के प्रति व्यंग्य, राष्ट्र प्रेम आदि का स्वर प्रमुखता से मुखरित हुआ है। अधिकांश कविताएँ – जैसे 'दो चट्टानें', 'मूल्य चुकाने वाला', 'भोलेपन की कीमत', 'बाढ़ पीड़ितों के शिविर में', गैंडे की गवेषणा' आदि में – तत्कालीन मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन तथा समसामयिक संघर्षों के प्रति क्षोभ ही व्यक्त करती है। समाज में व्याप्त उत्पीड़न, हताशा, अत्याचार, शोषण, अन्याय जैसी विकृतियों के प्रति बच्चन का आत्मसंघर्ष इन शब्दों में प्रकट होता है।

समय आ गया है
यथार्थ को
खुली आँख देखने,
पूर्ण भोगने,
निडर स्वीकृत करने का,
सपने को पाषाणों के अन्दर सेने को।[5]

इस प्रकार समय के साक्षात्कार के चलते उसे काल्पनिक सिद्धान्त, आदर्श, सोच आदि सबके सब बेमानी लगने लगते हैं। और यह यथार्थ जीवन के सत्य को कुछ व्यथित होकर ही सही परन्तु स्वीकारने की ओर अग्रसर होता है। यह समय की जरूरत तो रही ही है कवि–कर्म की अनिर्वायता भी रही है। इससे कटकर रहना संवेदनशील कवि के लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए वह इन रचनाओं में समाज, जीवन और जीवनागत समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं रहता बल्कि उसका सीधा साक्षात्कार करता है, उससे टकराता है। वह जीवन में कठोर संघर्ष का हिमायती बन प्रगतिशील जीवन–मूल्यों का पक्ष लेता है और सड़े–गले मूल्यों, मान्यताओं एवं परम्पराओं के प्रति

खुला विरोध प्रस्तुत करते हुए कहता है।

जहाँ आप
सड़ी–गली रूढ़ियों के प्रतिनिधि हैं,
प्रतिगामी पोंगा पन्थियों के ठेकेदार,
(और कुछ और भी, जो, मुझझे न कहलाइये)
वहाँ आपको मेरी ठोकरें
एक–दो–तीन–चार।[6]

वस्तुतः युग और समाज की बदलती परिस्थितियों की समझ और पहचान कवि बच्चन में बड़ी प्रखर रही हैं। वे जीवन में नवीनता के पोषक हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि जब एक आवरण हटता है तभी उसके नीचे का सही सच्चा रूप सामने आता है। इसलिए जो सूख गया है, जिसका महत्त्व समाप्त हो गया है, जो जड़ हो गया है, जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गयी हैं उसे हटाने की आवश्यकता है पर पूरी सचेतना के साथ। तभी तो वे कहते हैं–

प्याज का
पुराना, बाहरी, सूखा छिलका
उतरता है,
और भीतर से
नया, सरस रूप
उधरता हैं, निकलता है।[7]

इस प्रकार क्रमशः बच्चन की वैचारिक दृष्टि का विकास हुआ है और उनकी सोच बहिर्मुखी होती गयी हैं, अपने कर्तव्य के प्रति वे सचेत होते गये हैं और अपनी आँखों पर से कल्पना के चश्में को उतारने में सफल हुए हैं। तभी तो कवि की दृष्टि 'खून पसीने की रोटी खाने वाली' और 'एड़ी से लेकर चोटी तक मर मेहनत में, मार–थकावट से डूबी' मजदूरनियों पर पड़ती है। उनके प्रति अपनी संवेदना को व्यक्त करने के साथ ही कवि ने अर्थहीन जीवन जीने वालों के प्रति व्यंग्य–भाव प्रस्तुत करते हुए इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि–

सोने वाले की किसमत
सोती रहती हैं,
उठ बैठे की किस्मत
उठ बैठा करती है,
खड़े हुए का भाग्य
खड़ा हो जाता हैं,
चलने वाले का
चल पड़ता है।[8]

बच्चन की रोमानियत भी भिन्न तरह की रही हैं और यहीं वजह है कि वे किसी सीमा में नहीं बंधे चाहे वह किसी भी तरह की सीमा रही हो। वाद, विचार, भाषा, छन्द, प्रतीक, बिम्ब हर स्तर पर उनकी दृष्टि, उनका मापदण्ड सबसे

अलग रहा। और इसलिए उनमें क्रमशः बदलाव आता गया है। जीवन से जुड़ने की प्रक्रिया में कवि ने स्वीकारा है कि–

आज मानव–मनस्
इतना खिन्न–खण्डित, विश्रृंखल हैं
बाँध यदि उसकोस सकूं कुछ देर को मैं
किसी थिर, सन्तुलित, निष्ठायुक्त समर्पित एक से तो
मनुजता की कम नहीं सेवा करूँगा।[9]

इस प्रकार बच्चन ने अपनी परवर्ती रचनाओं में जिन मानवीय भावनाओं को उभारा है उससे प्रताड़ित जीवन को आत्मबल प्राप्त होता हैं, संघर्ष करने की प्रेरणा मिलती है। निस्सन्देह बच्चन ने अपने इस कर्म से समाज–सेवा, देश–सेवा और मनुज–सेवा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि बच्चन ने जीवन और कवि कर्म को एक दूसरे में इतना संपृक्त कर दिया है कि साहित्य और जीवन एक दूसरे के पूरक बन गये हैं। तभी तो वे कहते हैं–

साहित्य बड़ा तब होता हैं
जब समाज बड़ा होता है,
देश बड़ा होता हैं,
देश का इतिहास बड़ा होता हैं।
छोटे में, इन्सान बड़ा होता है।[10]

इस प्रकार बच्चन की परवर्ती रचनायें युग एवं युगबोध से जुड़कर अपना विशिष्ट महत्त्व स्थापित करती हैं। अपनी मूल संवेदना और व्यापक सामाजिक चेतना से युक्त ये कविताएँ इंसान को बड़ा बनाने की आकांक्षा रखती हैं ताकि समाज, देश, इतिहास साहित्य बड़े हो सकें। निस्सन्देह इनकी मूल संवेदना में व्यापकता के साथ ही गहरी समाज सम्पृक्तता भी मिलती है जो कि बच्चन की कविता का उल्लेखनीय पक्ष है, जिसे किसी भी रूप में नकारा नहीं जा सकता है।

*** व्याख्याता**
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, करौली, (राज.)

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बच्चन रचनावली : भाग – 3 'किनारा कसौटी है,' बहुत दिन बीते, पृ. 200
2. बच्चन रचनावली : भाग – 2 : 'माटी की महक', त्रिभंगिमा, पृ. 372
3. बच्चन रचनावली : भाग – 2 : 'अपने पाठकों से, 'बुद्ध और नाचघर, पृ. 268
4. बच्चन रचनावली : भाग – 3 : 'अपने पाठकों से', कटती प्रतिमाओं की आवाज, पृ. 227
5. वही : 'कवि से केंचुआ', दो चट्टानें, पृ. 63
6. वही : 'दो रूप : दो सलूक, कटती प्रतिमाओं की आवाज, पृ. 235
7. वही : 'नया–पुराना' दो चट्टानें, पृ. 99
8. वही : 'प्रति ध्वनि', कटती प्रतिमाओं की आवाज, पृ. 266

9. वही : 'दो चट्टानें अथव सिसिफस बरक्स हनुमान', दो चट्टानें, पृ. 107
10. वही : 'साहित्य : इन्सान', कटती प्रतिमाओं की आवाज, पृ. 252